बहुभाषीयता पर आधारित शिक्षा प्रणाली की ओर

आर. के. अग्निहोत्री

किसी भाषा के वर्चस्व के स्थान पर प्रो. अग्निहोत्री बहुभाषीयता को एक सामाजिक सच्चाई मानते हैं। वे कहते हैं कि भाषाएं वस्तुतः एक-दूसरे के साथ ही फलती-फूलती हैं। वे कहतें हैं कि किसी भी समाज को न्यायसंगत एवं दूसरों के प्रति संवेदनशील व्यवस्था कायम करनी है तो बहुभाषीयता भी इसकी एक शर्त है।

मेरा खयाल है कि एक न्यायसंगत विश्व व्यवस्था की भावी संभावना को ध्यान में रखें तो स्प्रिंग* द्वारा (2007) प्रस्तुत किए गए तीन शैक्षिक मॉडलों में से किसी एक का चुनाव एक सामाजिक-समाजभाषीय सिद्धान्त (सोशल-सोश्योलिंगवस्टिक थिअरी) के लिए पर्याप्त नहीं होगा। शिक्षा को संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करने वाले राज्य के लगातार गिरावट की ओर जा रहे उपभोक्तावादी मॉडल का विकल्प प्रस्तुत करना है तो शायद इतना ही काफी नहीं होगा कि क्लासिकीय, प्रगतिशील और देशज मॉडलों से व्यापक स्तर पर कुछ उधार ले लिया जाए। हमें शायद सामाजिक सिद्धान्त (सोशल थिअरी) और कार्यवाही (एक्शन) के बीच की द्वंद्वात्मकता पर भी ध्यान देना होगा और इस अंतःक्रिया के बीच मध्यस्थ की भूमिका में बहुभाषीय रूप-स्वरूप वाली भाषा पर भी - जैसा हेबर्मास, फूको और बोर्दो के काम में है (इन मुद्दों पर इन दार्शनिकों के काम पर गहरी दृष्टि ली हुई चर्चा हेतु देखिए, सारंगी, 2001)। इसके अलावा दक्षिणी अफ्रीका में 12 खण्डों की राष्ट्रीय शैक्षिक-नीति पड़ताल (राष्ट्रीय शैक्षिक समन्वय कमेटी, 1992) तथा तीन खण्डों (पाठ्यचर्या क्षेत्र, व्यवस्थागत सुधार और राष्ट्रीय सरोकार) में विभाजित 21 पोजिशन पेपर समेत राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् 2005) जैसे वृहत् प्रयासों और उनकी विवेचनाओं का भी ध्यानपूर्वक अध्ययन करने की जरूरत है।

हम वास्तव में ऐसे समाज की तलाश में हैं जहां सार्वभौमिक ''आनन्द, संतुष्टि और सुविधा-आराम'' के लिए जगह हो; लेकिन मेरे विचार में हम ऐसे समाज की भी खोज में हैं जो मन-मस्तिष्क और सोच-विचार की स्वायत्ता तथा अन्य के लिए सहानुभूति, स्नेह एवं आदर सुनिश्चित करता हो। जैसा कि स्प्रिंग

* यह लेख अपने मूल अंग्रेजी रूप में इण्टरनेश्नल मल्टिलिंगुअल रिसर्च जर्नल 1.2 (2007) में 'Towards a Pedagogical Paradigm Rooted in Multilinguality' शीर्षक से छपा था। यह इस जर्नल के इसी अंक में जो'ल स्प्रिंग के लेख की प्रतिक्रिया में छपे लेखों में से एक था। जर्नल में छपा जो'ल स्प्रिंग का लेख वास्तव में उनकी पुस्तक पेडागॉजीज ऑव ग्लोबलाइजेशनः द राइज ऑव द एजुकेशन सिक्योरिटी स्टेट (प्रकाशक-रूट्लेज) का पहला अध्याय है।

इशारतन कहते हैं, ''वैश्विक स्तर पर सोचो; अंग्रेजी सीखो; स्वयं को अपनी राष्ट्रीय पहचान में स्थित रखो'' जैसे शॉर्ट-कट समाधान गंभीर तौर पर समस्याग्रस्त हैं। जैसे-जैसे आप उपभोक्तावादी अर्थव्यवस्था में खिंचते चले जाते हैं, काम के लम्बे घण्टे आपके लिए आराम और आनन्द की गुंजाइश ही नहीं छोड़ते। सोच-विचार के लिए भी कोई वक्त नहीं रहता, यहां तक कि आप उस सबसे भी अनभिज्ञ रहते हैं जो आपको बरबाद कर रहा है। बेरहम प्रतिस्पर्धा इस बात के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती कि आप दूसरों का ध्यान ही रख लें। जीवन-शैली और संप्रेषण प्रणालियों की विविधता इतनी तेजी से गायब हो जाती है कि आपको इसका एहसास तक नहीं हो पाता।

बहुभाषीयता और मौजूदा हालात

अग्निहोत्री (2002) में मैंने सुझाय था कि औपचारिक भाषा-विज्ञान (फॉर्मल लिंगविस्टिक्स) और सामाजिक-भाषा विज्ञान (सोश्यो- लिंगविस्टिक्स) ने पिछले कुछ दशकों में भाषा के स्वरूप की संरचना और भाषा तथा समाज के बीच के संबंध की हमारी समझ को कुछ हद तक और अधिक पैना करने में बड़ी छलांग लगाई है। लेकिन तात्कालिक आवश्यकता सामाजिक संवेदनशीलता के साथ हस्तक्षेप की है। इस हस्तक्षेप की पहल के लिए सबसे उपयुक्त प्रभावी भूमिका शायद भाषाविदों की हो सकती है। स्प्रिंग का लेख (2007) पढ़ने के बाद मेरा पक्का विश्वास बना है कि जब तक भाषाविदों, शिक्षाविदों और राजनीतिक अर्थशास्त्रियों (और कई अन्य लोगों) के बीच सक्रिय सहयोग नहीं होगा, यह कार्य शायद नहीं हो पाएगा। यदि अपने बहुभाषी स्वरूप में भाषा (देखें अग्निहोत्री, 2002, 2005, 2007; सिंह, 2001) इंसान होने का एक अभिन्न घटक है, तो ताकत और सत्ता से संबद्ध भाषाओं को यह इजाजत नहीं दी जा सकती कि वे पिछड़े वर्गों की भाषाएं बोलने वालों का शोषण कर पाएं।

आर. के. अग्निहोत्री

जाने-माने भाषाविद्। दिल्ली विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त प्रोफेसर। एनसीईआरटी, दिल्ली द्वारा भारतीय भाषाओं के शिक्षण पर बने राष्ट्रीय फोकस समूह के अध्यक्ष रहे। फिलहाल अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बैंगलोर एवं विद्याभवन सोसाइटी, उदयपुर द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'लैंग्वेज एण्ड लैंग्वेज टीचिंग' के संपादक हैं।

बहुत मुमकिन है कि एक छोटे, संभ्रान्त वर्ग और कष्ट झेल रहे जन समुदाय के बीच की खाई को पाटने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण घुसपैठ एक ऐसे सक्रिय कार्यक्रम के माध्यम से हो जिसके केन्द्र में भाषा है। इस संदर्भ में यह समझना जरूरी है कि किसी भी अन्य कारक के मुकाबले वह अंग्रेजी भाषा ही है जिसने इस खाई को बढ़ाया है। बहुभाषीयता को भविष्य की सब पाठ्यचर्याओं, पाठ्यक्रमों, पाठ्यपुस्तकों और कक्षा के भीतर आदान-प्रदान की योजनाओं का आधार बनना होगा। उसे समता, न्याय, सामाजिक संवेदनशीलता, शान्ति और सामूहिक जिम्मेदारी के मूल्यों द्वारा संचालित एक ऐसी सामाजिक-राजनैतिक संकल्पना को जीवित रूप देने की शुरुआत करनी होगी, जो कोरी लफ्फाजी न होकर सार्थकता लिए हुए हो।

जिस दुनिया में हम जी रहे हैं, उसमें कुछ भाषाओं पर कलंक का टीका लगा दिया गया है। इन भाषाओं और भाषाओं की कई अन्य किस्मों के प्रति अत्यधिक नकारात्मक दृष्टिकोणों में ये भाषाएं बोलने वालों के प्रति ऐसे नजरिए झलकते हैं जिनके तहत उन्हें इंसान से भी निम्न दर्जे का प्राणी माना जाता है। मिलरॉय (2001) ने प्रदर्शित किया कि भाषा के प्रति नकारात्मक रवैये अलग-अलग सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों में अलग-अलग तरह से प्रकट होते हैं (उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में आर. पी. बनाम गैर आर. पी. और संयुक्त राज्य अमेरिका में श्वेत बनाम अफ्रीकन देसी बोलचाल), लेकिन इन नकारात्मक रवैयों के परिणाम हमेशा हाशिए पर पड़े समूहों को ही झेलने पड़ते हैं। मिलरॉय ने रूजवेल्ट को उद्धृत किया; ''हमारे पास जगह है तो बस एक भाषा के लिए और वह भाषा है अंग्रेजी, क्योंकि हमारा इरादा है कि कुठाली (क्रूसिबल) में से निकले हमारे लोग अमेरिकन हों, अमेरिकन राष्ट्रीयता के हों, न कि एक बहुभाषीय होस्टल में रहने वाले'' (पृष्ठ 240)। विडम्बना की बात है कि आज संयुक्त राज्य अमेरिका को भी भाषाओं और संस्कृतियों की विविधता के लिए जगह सुनिश्चित करनी पड़ती है। लेकिन फिर भी हमारा आग्रह रहता है कि व्यक्तियों और समुदायों को ''एक भाषा'' के संदर्भ में परिभाषित किया जाए।

यह बात विरोधाभासी लग सकती है लेकिन आधुनिक संसार का सच तो यही है कि जितना हम खुशी और शान्ति के पीछे भागते हैं, उतना ही हमारा दुख और बेचैनी बढ़ते जाते हैं। जितना अधिक मात्रा में हम भोजन का उत्पादन करते हैं, उतना ही लगता है कि भूख या आत्महत्या से मरने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि होती चली जा रही है (भारत के केवल चार दक्षिणी राज्यों में 2001 से किसानों में कुल मिलाकर हुई मौतों की संख्या के अनुमान 3,600 से 18,000 तक के हैं; सुन्दरम, 2006)। कर्नाटक के मुख्यमंत्री ने हाल ही में संकेत दिया था कि देश में किसानों द्वारा आत्महत्याओं का आंकड़ा 1,50,000 के पार चला जाएगा ('द हिन्दू', 5 मई 2007)। वे आत्महत्या करने की प्रबल इच्छा से बच निकलते हैं तो भी सूखे की वजह से छोटे-छोटे कर्जों की अदायगी न कर पाने के कारण वे स्वयं को जेल में पाते हैं (सांईनाथ, 1996, 2007)। जितना हम चिकित्सा विज्ञान में सफलता हासिल कर रहे हैं, उतना ही बीमारी और उपेक्षा से मरने वालों की संख्या में इजाफा हो रहा है। जितना गगनचुम्बी इमारतों की संख्या बढ़ती है, उतना ही बेघर लोगों की संख्या में वृद्धि हो रही है और जितना हम शिक्षा में पैसा लगाते हैं, शिक्षा पद्धतियों में नवाचार के नाम पर निवेश करते हैं, उतना ही इस व्यवस्था द्वारा पैदा किए जा रहे निरक्षरों की संख्या बढ़ती हुई महसूस होती है। निरक्षर केवल इस अर्थ में नहीं कि संसार भर में साक्षरता-दर कुल मिलाकर महत्त्वपूर्ण ढंग से बढ़ती दिखाई नहीं देती; निरक्षर इस अर्थ में भी कि तथाकथित साक्षर और शिक्षित लोग भी मानव दशा में आ रही लगातार गिरावट के प्रति कतई संवेदनशील नहीं हैं (और यह सब तब, जब साक्षरता का अर्थ बस 10 तक की गिनती कर पाने और हस्ताक्षर कर पाने से कुछ ही अधिक माना जाता है)। हम यह भी देखते हैं कि जितना हमारे पर्यावरण को बचाए रखने का विमर्श गहन और तीव्र हो रहा है, उतना ही हमारे आस पास प्रदूषण बढ़ रहा है।

यह सच में अफसोस की बात है कि जितना अधिक हम समता हासिल करने पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, उतना ही एक ओर विशेषाधिकार तथा सत्ता संपन्न और दूसरी ओर शोषित तथा पिछड़े वर्गों के बीच का फासला बढ़ता जाता है।

जो'ल स्प्रिंग (2007) की प्रार्थना, कि शिक्षा-सुरक्षा राज्य के औद्योगिक-उपभोक्तावादी मॉडल की ध्यानपूर्वक पड़ताल की जाए, वास्तव में सही समय पर की गई याचना है और हमें इसकी ओर तुरन्त ध्यान देना चाहिए।

मेरे सम्मानित मित्र और सहकर्मी कई बार मेरे लिए संसार का एक भयानक चित्र खींचते हैं जब, मसलन, मैं रुटीन किस्म की मानी जाने वाली कुछ स्थितियों में होता हूं :

- पानी पीता हूं जो बोतल बन्द नहीं होता।
- अंगूर खाता हूं।
- सफेद रंग की किसी भी वस्तु का उपभोग करता हूं : दूध, मिठाइयां, अण्डे, दही, काजू, पनीर आदि।
- बाजार से खरीददारी के बाद कुछ प्लास्टिक बैग लिए घर आता हूं।
- कागज के उस पन्ने को त्याग देता हूं, जिसे एक तरफ से अब भी प्रयोग किया जा सकता है।
- पेट्रोल पम्प पर मोबाइल का प्रयोग करता हूं।
- किसी नए व्यक्ति से आई ई-मेल खोल लेता हूं।
- पुराने पेन्सिल सेल या पुराने लैप-टॉप से पीछा छुड़ाना चाहता हूं, आदि।

बहुत बार जब मैं उन्हें कुछ ऐसी बातें बताता हूं जो अब तक सामान्य ज्ञान का हिस्सा हो गई होनी चाहिएं, तब वे मुझे बहुत ही हैरत से देखते हैं :

- उनके साथ यह तथ्य साझा करने पर कि भाषा (जिसे मैं हमेशा बहुभाषीयता के रूप में परिभाषित करता हूं) एक ही समय पर ज्ञान के निर्माण का स्थान और माध्यम, दोनों है; वह केवल संप्रेषण का साधन ही नहीं है;

वह एक अनुभव है जो ऐतिहासिक स्तर पर हमें निर्मित करता है और सामाजिक-राजनैतिक तौर पर हमारी सामूहिकताओं के मॉडल तैयार करता है।

- सुझाता हूं कि ''मानक'' भाषा के संदर्भ में कुछ भी पवित्र और आराध्य नहीं है। सभी भाषाएं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बराबर तौर पर सुव्यवस्थित हैं हालांकि सामाजिक तौर पर नहीं।
- दर्शाने की कोशिश करता हूं कि भाषा और बोली में कोई अंतर नहीं है; ''भाषा तो थल और जल सेना से लैस एक बोली है, बस।''
- दलील देता हूं कि हमें भाषा की पुनः परिकल्पना करने की जरूरत है; ''एक भाषा'' की अवधारणा को रद्द किया जाना चाहिए; भाषा के औपचारिक या स्वरूप संबंधी पहलुओं को पूरी तरह समझना चाहिए, उनकी कद्र करनी चाहिए, लेकिन सामाजिक क्षेत्र में उसकी विभिन्नता और गतिशीलता को, कार्यवाही (एक्शन) और शोषण के औजार के तौर पर उसके प्रयोग को भी पहचानना चाहिए।
- सुझाता हूं कि बहुभाषीयता मूल्यवान है, लाभकारी है। उसे एक संसाधन के रूप में, शिक्षण की रणनीति और लक्ष्य के रूप में प्रयोग किया जा सकता है; संबद्ध विमर्शों के विश्लेषण से इतिहास में समाज के हाशिए पर स्थित, पिछड़े वर्गों के योगदान का महत्त्व स्पष्ट तौर पर निकलकर आया है - इस संदर्भ को कक्षा में दिन-प्रतिदिन के शिक्षण में अमल में लाने की जरूरत है।
- यह दर्शाने के लिए प्रमाण देता हूं कि भाषा-प्रयोग में दक्षता, अकादमिक उपलब्धि, बोध-क्षमता में लचीलेपन और सामाजिक सहिष्णुता के साथ बहुभाषीयता का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तःसंबंध है।
- दलील देता हूं कि पाठ्यपुस्तकों और शिक्षकों के माध्यम से औपचारिक शिक्षण के महत्त्व को बनाए रखते हुए भी हमें यह समझने की जरूरत है कि बच्चे और वयस्क असल में किसी के द्वारा शिक्षा दिए जाने या सिखाए जाने के मुकाबले बहुत अधिक कुछ स्वयं सीखते हैं।

इसी रौ में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। जाहिर है कि स्प्रिंग द्वारा जिस बड़े स्वप्न का खाका खींचा गया है, धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ने के लिए बहुत कुछ करना होगा, शायद छोटे-छोटे कई शृंखलाबद्ध कदम उठाने होंगे। चक्रबर्ती (2002, पृ. 39) ने सवाल उठाया था, ''क्या शिक्षा का उद्देश्य लोगों को इस रूप में शिक्षित करने का होना चाहिए कि वे आधुनिकता के सिद्धान्तों के विरुद्ध जाने वाले चलन और प्रथाओं से बाहर निकल पाएं? उन्हें ऐसी गतिविधियों या विचारों से दूर ले जाने का होना चाहिए, जिन्हें वैज्ञानिक तार्किकता, लोकतांत्रिक राजनीति और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र घृणापूर्ण नहीं भी मानते तो परेशानी का सबब तो मानते ही हैं? मेरे विचार से उत्तर एक जोरदार ''हां'' में होगा।

राज्य द्वारा कदम पीछे खींचना

हमने अपने लिए किस तरह की दुनिया बना ली है? भविष्य के लिए क्या-क्या संभावित नक्शे हो सकते हैं? आर्थिक दृष्टि से निःसहाय अधिकतर देशों में नई विश्व-व्यवस्था को राज्य द्वारा कल्याणकारी क्षेत्रों से पीछे हटने के संदर्भ में परिभाषित किया जा रहा है। इस व्यवस्था के तहत ढांचागत, संरचनात्मक बदलाव तथा सुरक्षा-जाल (सेफ्टी नेट) भी आते हैं जो न केवल ताकतवर और कमजोर देशों के बीच हुए समझौतों के माध्यम से, बल्कि बड़ी दान राशियों के माध्यम से भी संचालित होते हैं। इन सब बातों के चलते कमजोर देशों की राजनैतिक अर्थव्यवस्था वह दिशा लेती है जिससे लाभ तो अंततः पहले से शक्तिशाली गिने-चुने देशों को ही पहुंचता है (देखें अग्निहोत्री 2005; सद्गोपाल, 2004)। आमतौर पर मानकर चला जाता है कि अंग्रेजी का सीखा जाना और कुछ विशेष प्रकार की तकनीकी/प्रौद्योगिकी तथा उपभोग की चीजों का प्रयोग तो इन सभी दान राशियों, कर्जों और निवेशों के अन्तर्गत होना ही है। इन प्रक्रियाओं में बहुत बार ज्ञान और भाषाओं की विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं समेत स्थानीय संस्कृतियों का सर्वनाश शामिल रहता है।

वित्तीय सहायता देने वाली विश्व बैंक (वर्ल्ड बैंक) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइ.एम.एफ) जैसी महत्त्वपूर्ण एजेंसियों ने प्रगतिशील देशों में बहुत बड़े पैमाने पर निवेश किए हैं, विशेष तौर से साक्षरता और शिक्षा के क्षेत्र में। वास्तव में यह मानकर चला जाता है कि गरीबों को बस साक्षरता की ही जरूरत है न कि शिक्षा की। यह कभी भी स्पष्ट नहीं हो पाया है कि किस तर्क के तहत इस दुर्भाग्यपूर्ण अन्तर को जायज माना जाता है। प्रगतिशील देशों को बाध्य किया गया है कि वे साक्षरता को न्यूनतम अर्थ में परिभाषित करें; एक ओर भूख, शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा की समस्याओं, और दूसरी ओर निरक्षरता के बीच एक बहुत ही मजबूत अंतःसंबंध देखा जाता है और यह मान लिया जाता है कि ''न्यूनतम साक्षरता'' में बेहतरी होने से सब समस्याओं का हल स्वयं ही हो जाएगा। उदाहरण के लिए, बांग्लादेश पर संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (नेस्को; 1984) की रिपोर्ट के मुताबिक ''अत्यधिक निरक्षरता आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के रास्ते की सबसे भयंकर बाधा है'' (पृ. 3)। भारत के बारे में हमें बताया जाता है कि ''सरकार द्वारा लोकतांत्रिक तरीके से कार्य करने तथा कार्यों और जिम्मेदारियों के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में लोगों की बड़े पैमाने पर जागरूक भागीदारी के लिए साक्षरता एक लोकतांत्रिक सरकार की आवश्यक पूर्व शर्त तथा दायित्व है'' (पृ. 33)। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि यह साक्षरता बस यहीं तक महदूद रहेगी कि लोग ''सड़कों के चिह्न, पोस्टर, सामान्य दिशा-निर्देश, नवसाक्षरों के लिए समाचार पत्र आदि समझ के साथ पढ़ पाएं'', ''छोटे पत्र, प्रार्थना-पत्र स्वयं लिख पाएं और चेक, फॉर्म इत्यादि भर पाएं'' तथा ''प्रतिशत, ब्याज, अनुपात और *भिन्न/बटों को शामिल किए बिना* क्षेत्रफल का कुछ अन्दाजा...'' (बल जोड़ा गया है) कर पाएं (पृ. 24-25)।

साक्षरता के इतने न्यून स्तरों के साथ लोगों द्वारा अपनी अवस्था के कारणों को तार्किक आधार पर अलग कर पाना और उन्हें दुरुस्त करना तो दूर, उन पर विचार करना भी कैसे प्रारम्भ कर सकते हैं? साक्षरता के बारे में यह दृष्टिकोण तो वास्तव में मानव बुद्धि का निरादर ही है। प्राथमिक शिक्षा के मामले में भी अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप से कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव नहीं हुए हैं। जैसा कि अन्य के अलावा सद्‌गोपाल (2004) और कुमार, प्रियम तथा सक्सेना (2001) ने प्रभावी ढंग से दिखाया है, स्कूली व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप पिछड़े वर्गों के लिए खतरनाक सिद्ध हुआ क्योंकि उसने राज्य/सरकार के लिए आरामदायक अवस्था पैदा कर दी जिसके चलते वह शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता और सुरक्षा के कल्याणकारी क्षेत्रों से हटता चला गया। उदाहरण के लिए, आज संविधान 6 से 14 साल के बीच शिक्षा की बात करता है जबकि भारतीय संविधान की आरम्भिक प्रतिबद्धता 0-14 वर्ष की आयु के बच्चों की देखभाल की थी। इसलिए हमें न्यूनतम साक्षरता के कार्यक्रमों के बारे में नहीं, बल्कि व्यापक-विस्तृत तथा सामाजिक-भाषाई दृष्टि में स्थित शिक्षा के बारे में सोचना होगा। इस प्रस्ताव की प्रारम्भिक रूपरेखा अग्निहोत्री (2007) में देखी जा सकती है।

अंग्रेजी और बहुभाषीयता

अग्निहोत्री और खन्ना (1997) में हमने एक व्यापक सर्वे के निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे जिससे स्पष्ट था कि वैश्वीकरण और बाजार की अर्थव्यवस्था की जरूरतें ऐसी हैं कि प्रत्येक बच्चे को अंग्रेजी सीखनी ही पड़ेगी। उसके बाद भाषा से संबंधित योजना के घटनाक्रम ने हमारी बात को सही सिद्ध किया है। भारत के 75 प्रतिशत राज्यों ने कक्षा-1 से अंग्रेजी सीखने को अनिवार्य कर दिया है; स्थितियां सिंगापुर, जापान, चीन में भी बहुत अलग नहीं हैं और यही बात कंबोडिया, पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका में भी देखने में आई है। ध्यान दिलाना होगा कि अंग्रेजी ऐसी पहली भाषा नहीं है जिसे इस प्रकार की ताकत हासिल हुई हो; संस्कृत, यूनानी, लातिनी और फारसी भाषाएं भी इस मामले में अंग्रेजी से बहुत पीछे नहीं रही हैं। हमारी आशा बस इतनी ही है कि नव-अंग्रेजी साम्राज्यवाद की रीढ़ की हड्डी का काम करने वाली आर्थिक नीतियां और तकनीकी नवाचार पिछड़ों की भाषाओं और संस्कृतियों के लिए भी जगह बनाएंगे, यानी इस व्यवस्था के भीतर से ही विरोध और नई कल्पनाओं के लिए जगह बन पाएगी। हाल के समय तक भी कम्प्यूटर और इंटरनेट की दुनिया पर अंग्रेजी ही राज करती दिखाई देती थी; आज वही प्रौद्योगिकी भाषाओं, साहित्यों, लोक संस्कृतियों और ऐसी लिपियों का सशक्तीकरण कर रही है जो शायद

हमारे लिए हमेशा के लिए खो चुकी थीं। नई तकनीकी केवल उस सबका रिकॉर्ड रखने में मददगार नहीं है जो खतरे में पड़ गया लगता है, बल्कि वह सीधे, जीवन्त संप्रेषण और भाव अभिव्यक्ति के लिए भी नई खिड़कियां खोलती दिखाई देती है। अंग्रेजी के ''अन्दरूनी दायरे'' के बोलने वालों के लिए यह स्पष्ट होता चला जा रहा है (कचरू, 1992) कि अंग्रेजी अन्य भाषाओं की संगत में रहकर ही बच और फल-फूल सकती है न कि उनसे कटकर रहते हुए। अंग्रेजी शायद पूरे ही संसार में स्कूली पाठ्यचर्या का आवश्यक हिस्सा तो बनेगी, लेकिन बहुभाषीयता और बहु-संस्कृतियों के माहौल में ही। बाजार की वैश्विक अर्थव्यवस्था के एकरूपीय दबाव के बावजूद स्थानीय साक्षरता और ज्ञान की स्थानीय व्यवस्थाओं को बनाए रखने की कोशिशों को कम कर के नहीं आंका जाना चाहिए।

हमें इस भावना के संकेत स्प्रिंग के लेख (2007) में भी देखने को मिलते हैं। स्प्रिंग के मुताबिक, ''हालांकि अंग्रेजी का ज्ञान वैश्विक अर्थव्यवस्था में सबसे अधिक पैसे वाली नौकरियों और आर्थिक ताकत तथा सत्ता तक पहुंच बनाता है, असल उपभोक्ता-बाजार की प्रवृत्ति विश्व-स्तरीय ब्रैण्ड प्रतीकों को सम्मिलित करने लेकिन साथ ही स्थानीय भाषाओं को बचाए रखने की रहती है। इससे भाषा और संस्कृति का मिश्रण पैदा हो सकता है'' (पृ. XX)। लेकिन स्प्रिंग को डर इस बात का है कि साझा तो बस ब्रैण्ड-प्रतीकों की भाषा और उपभोक्तावाद की संस्कृति को ही किया जाता है। मेरे खयाल से भविष्य में असली जरूरत इसी बात की है कि बहुभाषाई कक्षा की संपूर्ण संभावनाओं तक पहुंचने की कोशिश की जाए। इस कक्षा में सभी बच्चों की भाषाओं और स्थानीय संस्कृतियों का आदर किया जाएगा और वे पाठ्यचर्या तथा शिक्षण-रणनीतियों का एक अभिन्न अंग होंगे। कक्षा में विभिन्न भाषाओं और अलग-अलग किस्मों से संबंधित डेटा समीक्षात्मक सोच-विचार का आधार होगा और अवलोकन, वर्गीकरण, नियम-निर्माण तथा तर्क के आधार की जांच जैसी बोधात्मक दक्षताओं को तीखा करने में मददगार होगा; अनुवाद और सामाजिक विज्ञानों में तुलनात्मक कार्य समीक्षात्मक चिन्तन की क्षमताओं में और बेहतरी लाएगा (देखें, अग्निहोत्री, 1995, 1997)। बेकर (2006) के अनुसार :

> *द्वंद्व और तकरार भरे इस भूमण्डलीकृत संसार में अनुवाद सभी पक्षों द्वारा घटनाओं के अपने-अपने नजरिए को जायज ठहराने की क्षमता के केन्द्र में है, विशेष तौर से इस तथ्य के मद्देनजर कि राजनैतिक और अन्य प्रकार के संघर्ष और द्वंद्व अब खुलकर अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में आ रहे हैं और उनके हल केवल स्थानीय स्तर पर अपील के माध्यम से नहीं हो सकते (पृ. 1)।*

अग्निहोत्री (2005) में मैंने दिल्ली में किए गए एक पायलट अध्ययन के परिणाम रखे। यह अध्ययन भाषा-प्रयोग के बदलते तानों-बानों की जांच-पड़ताल के लिए किया गया था और इस बात पर विशेष ध्यान था कि किस प्रकार वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के दबावों ने लोगों की स्थानीय भाषाओं को संभवतः पीछे धकेल दिया होगा। इसमें एक महाविद्यालय के 45 विद्यार्थी बानगी के तौर पर लिए गए। उन सबने हिन्दी और अंग्रेजी के प्रयोग में उच्च दर्जे की कुशलता का दावा किया। इसके अलावा इनमें से कुछ विद्यार्थी कई अन्य भाषाओं के प्रयोग में भी स्वयं को कुशल मानते थे। उनसे पूछे गए प्रश्नों में से एक था, ''आपको चयन की छूट मिले तो आप घर, महाविद्यालय, बाजार आदि स्थानों पर विभिन्न लोगों के साथ और दोस्तों के साथ बात करने के लिए सामान्य तौर पर किन भाषाओं का प्रयोग करेंगे?'' उनके वृत्तान्त इन नौजवानों के दिमागों के अन्दर झांकने का मौका देते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी की जबरदस्त मौजूदगी और दबाव देखने में आते हैं। लेकिन साथ में ही बहुभाषीयता की भी जबरदस्त मौजूदगी है। इन वृत्तान्तों से हमारे मन में कोई शक नहीं रह जाता कि बहुभाषीयता भारतीय संस्कृति और लोकव्यवहार में रचा-बसा विशिष्ट गुण है और रहेगा। भारत में तथा अन्यत्र सम्मिलन और भाषा-मिश्रण (कन्वर्जेन्स एण्ड कोड मिक्सिंग) पर हुए कई अध्ययन प्रदर्शित करते हैं कि भाषाएं संरचनात्मक सरहदों को नहीं मानतीं। उच्चारण-विज्ञान, शब्दरूप-विज्ञान, वाक्य विन्यास, अर्थविज्ञान और व्यवहारवादी विज्ञान के तत्व विभिन्न भाषाओं के बीच स्वतंत्रता से विचरते हैं और भारतीय उपमहाद्वीप जैसा बड़ा इलाका भी एक

भाषाई और सामाजिक-भाषाई क्षेत्र बन जाता है (पण्डित, 1972, 1988)। यहां संप्रेषण में परिवर्तनशीलता या भिन्नता बाधा नहीं है, बल्कि वह सहायक का काम करती है। अध्ययन में मोटे तौर पर तीन वर्ग निकलकर आए जो कमजोर से सशक्त बहुभाषीयता के बीच फैले थे और अधिकतम प्रतिक्रियाएं सशक्त बहुभाषीयता वाले वर्ग से आईं। मैं यहां कुछ हवाले दे रहा हूं जो भारत की बहुभाषाई वास्तविकता को सबसे बेहतर दर्शाते हैं:

उत्तरकर्ता 1

अपनी मां से मैं भोजपुरी में ही बात करना पसंद करूंगा क्योंकि मैं हिन्दी और अंग्रेजी के मुकाबले इसके ज्यादा नजदीक महसूस करता हूं... अपने पिता के साथ मैं इनमें से किसी भी भाषा में या हिन्दी में बात करना चाहूंगा... दोस्तों से मैं आम तौर पर अंग्रेजी और हिन्दी में बात करता हूं... लेकिन अगर वे भोजपुरी में बात करना चाहें, तो मैं बाखुशी वैसा ही करता हूं... रिश्तेदारों से हिन्दी और अंग्रेजी... अजनबियों से व्यक्ति के हिसाब से।

उत्तरकर्ता 2

हिन्दी मेरी मातृभाषा है और वह मैंने घर पर सीखी है, इसलिए माता-पिता से बात करते हुए मैं इसी भाषा में सहज महसूस करता हूं। अंग्रेजी मैंने स्कूल में सीखी, इसलिए दोस्तों और भाई-बहनों से संबंध में मैं अंग्रेजी को तरजीह देता हूं। दोस्तों और भाई-बहनों के साथ मैं हिन्दी का भी इस्तेमाल करता हूं। मेरे कुछ रिश्तेदारों को भोजपुरी के अलावा कोई भाषा नहीं आती... मुझे यह भाषा अच्छी लगती है क्योंकि मैं इसका प्रयोग बचपन से करता चला आया हूं। अपने शिक्षकों और अजनबियों के साथ, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने के नाते अंग्रेजी बहुत आरामदायक रहती है। औपचारिकता में भी मैं अंग्रेजी ही पसंद करता हूं।

उत्तरकर्ता 3

अपने माता-पिता, भाइयों और बहनों के साथ मुझे अपने गांव की, तंग्कुल बोली इस्तेमाल करना अच्छा लगता है क्योंकि इससे उनके साथ अधिक घरेलू और आत्मीय संबंध का अहसास होता है। इससे हममें एकता का अहसास भी रहता है। यही बात मेरे सगे-संबंधियों के साथ भी है। किसी अजनबी या शिक्षक के साथ मैं अंग्रेजी में बात करना पसंद करता हूं क्योंकि यह सभी जगह आम है।

उत्तरकर्ता 4

मेरे पास भाषा चुनने का मौका हो तो मैं हिन्दी और अंग्रेजी को चुनूंगा क्योंकि मुझे अंग्रेजी आती तो है लेकिन मैं इसे तेजी से नहीं बोल पाता... जहां तक हिन्दी की बात है, यह भारत की राष्ट्रीय (वास्तव में राजकीय) भाषा है और इसकी उपेक्षा ही की जाती है। मेरे पिता हिन्दी के शिक्षक हैं, इसलिए मैं उन्हीं की तरह बोलना चाहता हूं। वे जब भी बात करते हैं, कभी भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग नहीं करते... इसके अलावा मैं अपने परिवार के सदस्यों के साथ मैथिली का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहूंगा। क्योंकि यह मेरी मातृभाषा है... मैं ऊपर बताई भाषाओं से भी अधिक बंगाली बोलना पसंद करता हूं क्योंकि यह एक बहुत ही खूबसूरत भाषा है और इसकी अच्छी संस्कृति भी है। इसलिए जब भी मुझे कोई अजनबी मिलता है जो बंगाली हो, मैं उसके साथ बंगाली में बोलने लग जाता हूं। इस सबके चलते मुझमें एक भारतीय होने का अहसास रहता हूं।

इस सबमें मैं अपनी साढ़े चार साल की पोती होम्ना की तस्वीर जोड़ना चाहूंगा। उसका जन्म दिल्ली में हुआ। परिवार में हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी और मण्ड्याली (हिमाचल प्रदेश की एक भाषा) बोली जाती थी। वह इन सब भाषाओं को एक ही समय में सहजता से सुनती थी। उतना ही सहज वह इन भाषाओं के वक्ताओं के साथ आदान-प्रदान में भी महसूस करती थी। वह लगभग ढाई साल की हुई तो दक्षिणी भारत में कर्नाटक के बैंगलोर चली गई। अब भाषाओं की उसकी सूची में कन्नड़ और तमिल जैसी भाषाएं भी शामिल हो गईं। बहुत बार वह घर में काम करने वाली के साथ अलग से, धाराप्रवाह तमिल में बात करती है। उस लम्हा घर का कोई अन्य सदस्य

उन दोनों के बीच हो रही अंतरंग बात का एक शब्द भी नहीं समझ पाता। वह तमिल और कन्नड़ के गीतों के टुकड़े दोषरहित गाती है और बहुत बार अपने मित्रों के साथ इन्हीं भाषाओं का प्रयोग करती है। वह हिन्दी और अंग्रेजी का भी धाराप्रवाह प्रयोग व्यक्ति, स्थान और विषय को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त तरीके से करती है। उसके मित्रों में ऐसे बच्चे शामिल हैं जो इन सब भाषाओं के अतिरिक्त मलयालम और तेलुगु भी बोलते हैं। वह कोई विशिष्ट बच्ची नहीं है, भाषाई दृष्टि से तो बिल्कुल भी नहीं, हालांकि सामाजिक-आर्थिक पैमाने से कहा जा सकता है कि वह मध्यम वर्ग से है।

अलग-अलग हद तक इस प्रकार की बहुभाषीयता वास्तव में सार्वभौमिक है। बैंगलोर में लगभग प्रत्येक ऑटो-रिक्शा या टैक्सी ड्राइवर तीन या चार भाषाओं के सक्रिय प्रयोग में सक्षम है। मुझे लगता है कि इस प्रकार की बहुभाषीयता इंसान होने की विशेषता है, सामाजिक समूहों और नेट्वर्क्स में जीने की विशेषता है और भारत या दक्षिणी एशिया या अफ्रीका की अलग से कोई विशेषता नहीं है। हमें भविष्य की अपनी योजना इस बात को ध्यान में रखकर ही बनानी चाहिए। पेनिकुक (1994) को लगता था कि हमारे दिमागों को औपनिवेशिकता से निजात दिलानी है तो भविष्य के विमर्शों और प्रतिविमर्शों को अंग्रेजी में सूत्रबद्ध करना होगा, उनके अनुसारः

> प्रति-विमर्शात्मक दृष्टिकोणों की संरचना अंग्रेजी में होने के निहितार्थ उसके व्यक्तित्व की पुनः प्रस्तुति के लिए ही नहीं हैं जिसे उपनिवेशित किया गया, बल्कि उपनिवेशित करने वाले के उत्तर-उपनिवेशन दौर के व्यक्तित्व के प्रतिनिधित्व के लिए भी हैं... और अंग्रेजी कई तरह से इस बात की सबसे बड़ी संभावना जगाती है कि उपनिवेशक के दिमाग को शायद उपनिवेशन के शिकंजे से छुड़ा लिया जाए (पृ. 324-325)।

मुझे लगता है कि भीतर से विरोध और प्रति-विमर्शात्मक अवधारणाओं के लिए स्थान अकेले अंग्रेजी में नहीं, बहुभाषीयता में बनाना होगा। अंग्रेजी के योगदान को नकारा नहीं जा सकता, लेकिन दुनिया भर में आजादी के लिए संघर्ष जमीनी स्तर पर लोगों की भाषाओं में ही सुदृढ़ हुए हैं।

निष्कर्ष :

जैसा कि सारंगी (2001) ने कहा, ''दुर्खीम की कही बात पर लौटें (कि सामाजिक बात की व्याख्या भी सामाजिक ही होनी चाहिए) तो उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करते हुए हम काफी कुछ हासिल कर सकते हैं। यह कहकर कि ''सामाजिक की व्याख्या सामाजिक-भाषिक तौर पर की जानी चाहिए'' (पृ. 56)। जरूरत है कि हम सामाजिक जीवन के बारे में भाषा-आधारित दृष्टिकोण के संदर्भ में सोचें (यानी, हम भविष्य के समाजों के ऐसे प्रारूप बनाने की कोशिश करें जिनमें बहुभाषीयता और उसकी सहायक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएं सामाजिक सिद्धान्त-रचना तथा व्यवहार के केन्द्र में हों)। और सामाजिक सिद्धान्त-रचना की ओर महत्त्वपूर्ण ढंग से बढ़ने का माध्यम विमर्श की विभिन्न किस्मों का ऐसा विश्लेषण ही बन सकता है जिसका आधार सामाजिक हो। उदाहरण के लिए, विमर्श की ऐसी किस्मों में हम हेबर्मास के ''सुनियोजित रूप से विकृत संप्रेषण'' (पृ. 38) को शामिल कर सकते हैं; फूको के इस दावे को ध्यान में रख सकते हैं कि ''भाषा पूरी तरह से विमर्श है - शब्द की उस विशेष, विचित्र ताकत की बदौलत, जिसके चलते वह छलांगता है, संकेतों की व्यवस्था के पार - उसके अस्तित्व की ओर, जिसका वह प्रतीक है'' (पृ. 45); और बोर्दो की इस बात को शामिल कर सकते हैं कि किस प्रकार ''विशिष्ट परिवेश ('हैबिट्स'), ''पूंजी और सांकेतिक सत्ता'' (पृ. 51) भाषा में रूपायित हो जाते हैं। ◆

भाषान्तर : रमणीक मोहन

संदर्भ :

अग्निहोत्री, आर. के. (1995)। मल्टीलिंग्वलिज्म एज ए क्लासरूम रिसोर्स। के. ह्यूघ, ए. सेयरून एवं पी. पेलुडमन द्वारा संपादित, *मल्टीलिंगुअल एज्युकेशन फोर साउथ अफ्रीका* (पृ. 3-7)। जोहान्सबर्ग, जर्मनी : हेइनमन।

अग्निहोत्री, आर. के. (1997)। मल्टीलिंग्वलिज्म, कॉलोनियलिज्म एण्ड ट्रान्सलेशन। एस. रामकृष्णा द्वारा संपादित, *ट्रान्सलेशन एण्ड मल्टीलिंग्वलिज्म : पोस्ट कॉलोनियल कॉन्टेक्स्ट* (पृ. 34-36)। दिल्ली, इण्डिया : पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।

अग्निहोत्री, आर. के. (2002)। *हाफ द बैटल एण्ड ए क्वार्टर* (सीआईआईएल फाउन्डेशन डे लेक्चर्स)। मैसूर : सीआईआईएल।

अग्निहोत्री, आर. के. (2005, सित. 16-18)। *सस्टेनिंग लोकल लैंग्वेज इन ए ग्लोबल पॉलिटिकल इकॉनॉमी।* 25वीं साउथ एशियन लैंग्वेज एनेलेसिस राउन्डटेबिल, यूनीवर्सिटी ऑफ इलिनोस, अरबानी-चैम्पेगन में मुख्य अभिभाषण।

अग्निहोत्री, आर. के. (2007)। आइडेन्टिटी एण्ड मल्टीलिंगुवलिटी : द केस ऑफ इण्डिया। बी.एम. तसई एवं जे. डब्ल्यू. टोलेफसन द्वारा संपादित, *लैंग्वेज पॉलिसी, कल्चर एण्ड आइडेन्टिटी इन एशियन कॉन्टेक्स्ट* (पृ. 185-204)। माहवाह, एनजे : लॉरेन्स एरल्बम एसोसियट्स, आईएनसी.

अग्निहोत्री, आर. के. एवं खन्ना, ए. एल. (1997)। *प्रोब्लेमिंग इंग्लिश इन इण्डिया।* नई दिल्ली, इण्डिया : सेज पब्लिकेशन्स।

बाकेर, एम. (2006)। *ट्रान्सलेशन एण्ड कॉनफ्लिक्ट : ए नैरेटिव अकाउन्ट।* लंदन : रूटलेज।

चक्रबर्ती, डी. (2002)। *हेबीटेशन्स ऑफ मॉडर्निटी : एजेस इन वेक ऑफ सब-अल्टर्न स्टडीज*। दिल्ली, इण्डिया : परमानेन्ट ब्लैक।

कचरू, बी. (1992)। मॉडल्स फोर नॉन-नेटिव इंग्लिशेज। बी. कचरू द्वारा संपादित, *द अदर टंग : इंग्लिश अक्रोस कल्चर्स* (पृ. 48-74)। अरबाना : यूनीवर्सिटी ऑफ इलिनोस प्रेस।

कुमार, के., प्रियम, एम. एवं सक्सेना, एस. (2001)। लुकिंग बियॉन्ड द स्मोक स्क्रीन : डीपीईपी एण्ड प्रायमरी एज्युकेशन इन इण्डिया। *इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* पृ. 560-568।

मिलरॉय, एल. (2001)। द सोश्यल कैटेगिरीज ऑफ रेस एण्ड क्लास : लैंग्वेज आइडियॉलॉजी एण्ड सोश्योलिंग्विस्टिक्स। एन. चोपलेण्ड, एस. सारंगी एवं सी. एन. केण्डलिन द्वारा संपादित, *सोश्योलिंगविस्टिक्स एण्ड सोश्यल थियरी* (पृ. 235-260)। हारलो, इंग्लैण्ड : लॉगमेन।

नेशनल कॉसिंल ऑफ एज्युकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग, इण्डिया (2005)। *नेशनल करिक्युलम फ्रेमवर्क*। नई दिल्ली, इण्डिया।

नेशनल एज्युकेशन कॉर्डिनेटिंग कमेटी, साउथ अफ्रीका। (1992)। *नेशनल पॉलिसी इन्वेस्टिगेशन* (एनईपीआई प्रोजेक्ट)। केप टाउन, साउथ अफ्रीका : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

पंडित, पी. बी. (1972)। इण्डिया एज ए सोशियोलिंगविस्टिक एरिया। पूना : यूनीवर्सिटी ऑफ पूना।

पंडित, पी. बी. (1998)। टुवार्ड्स ए ग्रामर ऑफ वेरियेशन। एल. एम. खूबचन्दानी द्वारा संपादित, *लैंग्वेज इन प्लुरल सोसाइटी* (पृ. 40-49)। दिल्ली, इण्डिया : मोतीलाल बनारसीदास एवं शिमला आईआईएएस।

पेनीकुक, ए. (1994)। *द कल्चरल पॉलिटिक्स ऑफ इंग्लिश एज एन इन्टरनेशनल लैंग्वेज।* लंदन : लाँगमेन।

सद्गोपाल, ए. (2004, जु. 15)। *ग्लोबलाइजेशन : डीमिस्टीफाइंग इट्स नॉलेज एजेण्डा फोर इण्डियाज एज्युकेशन पॉलिसी। दुर्गाबाई देशमुख लेक्चर, नई दिल्ली।* इण्डिया।

सांईनाथ, पी. (1996)। ऐवरीबडी लव्ज ए जुड ड्राउट। न्यूयॉर्क : पेंगुइन।

सांईनाथ, पी. (2007, मई 5)। जेल हाउस टॉक : ए फेट वर्स देन डेट। *द हिन्दू, पृ. 13।*

सारंगी, एस. (2001)। ए कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव ऑन सोश्यल थियरीटिकल अकॉउन्ट्स ऑफ द लैंग्वेज-एक्शन रिलेशनशिप। एन. कपलैण्ड, एस. सारंगी एवं सी. एन. कान्डलिन द्वारा संपादित, *सोश्योलिंग्विस्टिक्स एण्ड सोश्यल थियरी* (पृ. 29-60)। हारलो, इंग्लैण्ड : लॉगमेन।

सिंह, आर. (2001, जनवरी 12)। *चैजिंग बटरफ्लाइज इन ए मल्टीलिंगुवल गार्डन : ग्राउन्डिंग इवन लिंगविस्टिक फॉर्म इन मल्टी लिंगवलिटी।* आर. एन. श्रीवास्तव मैमोरियल लैक्चर, यूनीवर्सिटी ऑफ दिल्ली, इण्डिया।

सुन्दरम, वी. (2006)। *पाथ ब्रेक्रिंग रिपोर्ट ऑफ पार्थसारथी कमेटी-I।* न्यूज टुडे। मई, 2007, http://www.newstodaynet.com/2006sud/06sep/0109ss1.html

यूनाइटेड नेशन्स एज्युकेशनल, साइंटिफिक एण्ड कल्चरल ऑर्गनाइजेशन। (1984)। *लिटरेसी सिचुएशन इन एशिया एण्ड द पेसिफिक : बांग्लादेश।* बैंकॉक : रीजनल ऑफिस फोर एज्युकेशन इन एशिया एण्ड द पेसिफिक।